श्री समयसार

पं. धन्यकुमार गंगासा भोरे, बी. ए., एल्एल्. बी.

जैन साहित्य और जैन संस्कृति के ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द की मुद्रा टंकोत्कीर्ण अंकित है। 'समयसार' यह कुन्दकुन्द साहित्य में शिरोरत्न की तरह कांतिसंपन्न ग्रंथरत्न है। वह अध्यात्म साहित्य का आदिस्रोत है और सम्पूर्ण जैन साहित्य के लिए मानदण्ड भी है।

'आत्मा का शुद्धस्वरूप' यह पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार और समयसार सार–त्रयीका तो लक्ष्यबिन्दु है ही किन्तु समयसार का वह केन्द्र बिन्दु है। वही समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। ग्रंथ की गाथाएँ ४३५ हैं जिनपर आचार्य अमृतचंद्र की विख्यात **आत्मख्याति** तथा आचार्य जयसेन की **तात्पर्यवृत्ति** नाम की टीकाएँ है।

'समय' का व्युत्पत्यर्थ जो एकसाथ (युगपत्) अपने गुणपर्यायोंको प्राप्त होता है और जानता है ऐसा 'आत्मा' होता है। आत्मतत्त्व अपने त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव की अपेक्षा से एकरूप अतएव सर्वाङ्गसुन्दर होनेपर भी आत्मा अपने ही प्रज्ञा के अपराध के कारण इस ध्रुव चैतन्यस्वभाव को भूला हुआ है और परसापेक्ष नैमित्तिक भावों में—अहंकार, ममकार में तथा रागद्वेष मोहादि विभावों में तन्मयता को प्राप्त है। यह बन्ध कथा आत्मा की एकरूपता के लिए सुसंवादी नहीं है, पूर्णरूपेण विसंवादी है। फिर भी यह बन्धकथा सम्पूर्ण जीवों को परिचयप्राप्त है और अनुभवगम्य है। केवल अल्पज्ञ और अज्ञानी ही इस से प्रभावित रहे हैं ऐसा नहीं किन्तु अपने को ऋषीमहर्षी माननेवाले भी बुरी तरह से प्रभावित रहे है। धर्म तत्त्व के नामपर इसी वृत्तिका परिपोषण भी हुआ है।

स्वयं आत्मज्ञानी न होने के कारण और आत्मज्ञ–तत्त्वज्ञ सन्तों की उपासना न करने के कारण आत्मा की एकता का यह अनन्यसाधारण वैभव इस जीव के लिए जैसे अश्रुतपूर्व रहा वैसे ही अपरिचित एवं अननुभूत ही रहा। अन्तरंगमें विद्यमान किसी न किसी सूक्ष्म मोह भाव से अन्ध होने के कारण यह जीवात्मा इस सुन्दरता का दर्शन नहीं कर पाया। आत्मा के स्वतंत्रता धर्म की प्रतीति वह कर नहीं पाया। केवल स्थूल पापरूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होने मात्र से कृतकृत्यता की भावनाओं में बुरी तरह फँस जाने से धर्मभावों के सहचारी शुभभावस्वरूप बाह्य प्रवृत्तियों के चक्र से स्वयं को विमुक्त नहीं कर पाये। इसी-लिए वह आत्मा की वैभवशाली एकता की अनुभूति से कोसों दूर ही रहा।

विश्व में विद्यमान पदार्थों में व्याप्त होकर भी अपनी पृथक् सत्ता से भिन्न आत्मा के एकत्व की अनुभूति कराना यही इस ग्रन्थप्ररूपणा का एकमात्र उद्देश है। शब्द शक्ति की अपनी मर्यादा है। वर्ण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय का हार्द समझना असंभव है। इसीलिए स्वयं आचार्य ने ग्रन्थ में वर्णित प्रमेय के स्वीकार करने के पूर्व स्वानुभव प्रमाण के द्वारा परीक्षा करने के लिए विश्वासपूर्वक कहा है कि—

स्वानुभवप्रत्यक्षेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्।

इस एकरूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप ग्रन्थकारने गाथा ६ में कहा है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंती सुद्धं जो णाओ सो उ सो चेव ॥६॥

यह इस ग्रन्थ की प्राणभूत गाथा है। यह जीवात्मा अनादि बन्ध पर्याय की अपेक्षा से संसार की नाना अवस्थाओं में विविध पुण्य पापमय शुभाशुभ भावों से परिणत होता है फिर भी वह ध्रुव–ज्ञायक भाव स्वभाव की अपेक्षा से उन पुण्यपापरूप भावों से परिणत न होकर एकरूप ही है। इस प्रकार यह ध्रुव–ज्ञायक स्वभाव सम्पूर्ण परद्रव्य, परभाव और परसापेक्ष विकारी भावों से भिन्नस्वरूपेण अनुभव में आता हुआ जिस समय यह जीव अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के लिए आश्रय बनता है उस समय वह उपास्यमान आत्मा 'शुद्ध' कहा जाता है।

किचड से कर्दम से संयुक्त होनेपर भी जल अपने स्वभाव से निर्मल ही है इसी तरह अपनी पर्याय में अशुद्धता होते हुए भी जीव का अपना त्रिकालीज्ञायक ध्रुवस्वभाव विद्यमान होता ही है। जहाँ स्थूलदृष्टि अज्ञानी को उसकी मलीनता का और संयोग मात्र का प्रतिभास होता है, वहाँपर स्वभाव का लक्ष्य करने वाले विवेकी ज्ञानी को असंयोगी शुद्ध स्वभाव का अनुभव होता है, साक्षात अनुभूती होती है, यही कारण है कि अज्ञानी की जीवनी पर्यायों में सीमित होती है, उसका श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप जीवन–प्रवाह क्षणिक विकारों की सीमा में ही प्रवाहित होता रहता है। विकारों से वह सदाही तन्मयता को प्राप्त होता है। और ज्ञानी की दृष्टि व्यापक होती है पर्यायों में सीमित नहीं होती। विकारों को बराबर जानता हुआ, अपने त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का अवलंबन करता हुआ उसी को अपनी श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का आधार बनाता हुआ तन्मयता को प्राप्त होता है। यही शुद्ध आत्मा की उपासना है। यह आत्मा उस समय ज्ञेयाकार के निमित्त से ज्ञायक कहा जाता है फिर भी वह ज्ञेयों के कारण न ज्ञायक है और न ज्ञेयों के कारण मलिन ही है। उस समय ज्ञायक रूप में अनुभव में आया हुआ वह भाव तो वह ही है। ऐसा जो कहा गया है वहां वह अपने निजी सम्पूर्ण गुणों के प्रतिनिधित्व रूप में स्वीकृत है।

मोक्षसाधनभूत ज्ञायकस्वभाव

सम्पूर्ण विकार और विकारों के लिए हेतुभूत कर्मों से रहित अत्यंत स्वाभाविक शुद्ध एकरूप अपनी निजी अवस्था की प्राप्ती यही जीव मात्र का अंतिम ध्येय है, वही सुख निधान है, वही परमात्म पद है, उसे ही मोक्ष कहते है। उसके प्राप्ति का उपाय (अवलंबनभूत–पदार्थ–वस्तु) कौनसा है? इस मूलभूत समस्या को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रंथ के माध्यम से ठीक ठीक सुलझाया है। यद्यपि अन्य सिद्धजीव यह दृष्टांत के रूप में–प्रतिबिम्ब के रूप में है फिर भी उनकी सत्ता स्वतंत्र होने से भिन्न वस्तुस्वरूप सिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् सिद्धि के साधन कैसे हो सकेंगे ? स्वयं अपना आत्मा ही साधनरूप हो सकता है। यह आत्मवस्तु गुणपर्यायरूप है और वर्तमान में कर्म संयोग में अशुद्धता है, पर्याय में शुद्धता अविद्यमान है, इसलिए मोक्षके साधन के रूपसे वहां शुद्धपर्याय का आश्रय असंभव है। पर्याय मे जो अशुद्धता विद्यमान है उसका अवलम्ब भी अशुद्धता का ही जनक होगा। शुद्ध साध्य का जनक नहीं हो सकता। साधन ऐसा हो जो स्वयं आत्मस्वरूप हो—अपने में विद्यमान हो और स्वयं शुद्ध हो। ज्ञानी अंतर्मुख दृष्टीसे आत्मस्वभाव की ओर जब दृष्टि स्थिर करता है उस समय उसे वर्तमान संयोगी अशुद्ध पर्याय में भी सहज, स्वभावसिद्ध, शुद्ध ध्रुव ज्ञायक स्वभाव दृष्टिगोचर होता है। उसीका साधनस्वरूप से स्वीकार करना, अवलंब करना उसी का श्रद्धाज्ञान और चारित्ररूप जीवन के लिए आश्रय लेना यही एकमात्र मुक्ति का यथार्थ मार्ग है। इस सूक्ष्म विषय का क्रमबद्ध रूपसे सांगोपांग वर्णन आचार्य कुंदकुंद ने इस ग्रंथ में किया है। जो विषयका समर्थ आविष्कारक सिद्ध हुआ है।

शुद्धभावग्राही निश्चयदृष्टी (निश्चयनय)

इस लोकोत्तर ग्रंथ में लौकिक व्यवहारदृष्टि साध्यसिद्धि के लिए गौण एवं अप्रयोजनभूत होने से उसका अधिकार नहीं और एकमात्र ध्रुवज्ञायक स्वभाव को ग्रहण करने में समर्थ तथा प्रयोजनभूत होने से निश्चयनय ही मुख्य है। यत्रतत्र इसी शुद्धनय दृष्टि का, परमभावग्राही निश्चयनय का अधिकार है, क्योंकि

'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मा इट्ठी हवई जीवो।'
भूतार्थका आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

इस शुद्धनय का स्वरूप आचार्य कुंदकुंद ने स्वयं १४ वे गाथा में कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं नियदं।
अविसेस मसंजुतं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य (एकरूप), नियत, अविशेष, असंयुक्त रूपसे देखता है उसे शुद्धनय जानो। अनादि बन्धपर्याय की अपेक्षा से अनादि काल से कर्मों से बद्धस्पृष्ट, नरनारकादि नानाक्षणिक पर्यायों में अनेकरूप गुणों की तरतमता के कारण अनियत, अपने अनंत गुणों के कारण विशेषरूप, और कर्मनिमित्तक रागादि विकार भावों से संयुक्त दृष्टिगोचर होता है। इन पांचही प्रकारों में आत्मा की एकता और शुद्धता का अपलाप होता है। दो अत्यंत भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध का परिज्ञान करानेवाला व्यवहार – या व्यवहारनय वस्तु तत्त्व को स्पर्श करने में अत्यंत असमर्थ होने से मोक्षमार्ग में श्रेयोमार्ग में उसे अप्रयोजनभूत ही कहा और वह ठीक ही है। आगम ग्रंथों में संयोगमात्र का या निमित्तमात्र का यथास्थान परिज्ञान कराने मात्रके उद्देश से उसका यत्रतत्र निर्देश किया गया है। उसकी प्रधानता से ग्रंथोंकी निर्मिती हुई है किन्तु उपर्युक्त विविधता यह व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय या भेदप्रधान द्रव्यार्थिक नय का (द्रव्यार्थिकरूप व्यवहार नय) विषय रहा है, गुणभेद और पर्यायभेदपूर्वक वस्तु तत्त्वका विश्लेषण करके उसका ज्ञान मात्र कराने के लिये इन नयों की प्रवृति होती है इसलिए शुद्धनय की दृष्टि में वे सब व्यवहार ही है और ये शुद्ध आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभूति में साधक न होने से हेय है। वस्तुतत्त्वका जानना (आत्मतत्त्व) अलग बात है और उसका अनुभव करना यह और बात है। आत्मतत्त्व के ज्ञान और निर्णय के लिए प्राथमिक भूमिका में अवलंबनभूत प्रस्तुत भेददृष्टि या व्यवहारदृष्टि एकस्वरूप सुंदर आत्मा की समाधि में – आत्मानुभूति में बाधकही होती है। जानने के लिए मात्र वह प्रयोजनभूत है। आत्मानुभूति में तो अभेद प्रधान शुद्धनय साधकतम होता है। और आत्मानुभूति शुद्धनयरूप परिणाम है। यह ग्रंथ अनुभव प्रधान होने से उसी निश्चयदृष्टि का सर्वत्र धाराप्रवाही रूप से अवलंब होना यह स्वाभाविक है और प्रतिज्ञानुसार विषयाविष्कार के लिए अनुरूप ही है। ग्रंथ अनुभवप्रधान होने से शुद्धनयका ही अधिकार है और उसे आचार्यश्री ने अच्छी तरह से आखरी तक निभाया है।

समयसार की प्रथम बारह गाथाएं पिठिका बंध स्वरूप हैं। उनमें ग्रंथ का प्रयोजन, प्रतिपाद्य विषय (शुद्ध आत्मा का स्वरूप) प्रतिपादन दृष्टिकोण इनका दिग्दर्शन है, प्रसंगसे आवश्यक व्यवहार नय और निश्चयनय का स्वरूप उनके विषय, उनका परस्पर सामञ्जस्य, उनकी हेयोपादेयता, अपनी–अपनी मर्यादा आदि मूल विषयों का कथन है। सिद्धांत ग्रंथों में गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि कर्मसंयुक्त जीवकी दशाओं का वर्णन आया है तथा मुनि व श्रावकों के आचारों का चरणानुयोग संबंधी ग्रंथों में सुव्यवस्थित वर्णन आया है। इसका प्रयोजन पदार्थों का उनके भेदरूप गुणपर्यायों का तथा उनके परिकरों का ज्ञान करवाना तथा अंतरंग विशुद्धता के साथ होनेवाली यथास्थान बाह्य प्रवृत्तियां किस प्रकार होती है इसका परिज्ञान करवाना मात्र है। इस निरूपण में व्यवहार कथन की मुख्यता है। और उसका प्रस्तुत समयसार ग्रंथ में निरूपित शुद्ध आत्म तत्त्व के निरुपणा के साथ कोई विसंवाद नहीं है। किंतु उसकी मुख्यता नहीं। समयसार में प्राणभूत यथार्थ मोक्षमार्ग की ही विशद प्रतिपादना है यह दृष्टि में आना आवश्यक है। यदा कदा शिष्य को परस्पर विरोध की संभावना का विकल्प आता है वहां व्यवहार पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा है, और वह निश्चय मोक्षमार्ग में उपादेय नहीं यह स्पष्ट किया है। तथा उसकी अपनी मर्यादा भी बतलाई है। परंतु आत्मा के एकत्व की अनुभूति की परमसमाधि की दशा यह इन सारे विकल्पों के अतीत है यह सुस्पष्ट हो गया है।

इस एकत्व–विभक्त आत्मा को लक्ष्य बनाएँ बिना मोक्ष की कथा तो दूर परंतु मोक्षमार्ग की प्रथम श्रेणिरूप सम्यग्दर्शन भी अशक्य है। इसीलिए गाथा १३ में शुद्ध[1] नय के द्वारा जाने गये जीव–अजीव आस्रव–बंध–पुण्य–पाप–संवर–निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व ही सम्यग्दर्शन है ऐसा कहा है। उसी में शुद्ध नय द्वारा प्रतिवर्णित शुद्ध आत्म तत्त्व की प्रतिपत्ति-प्रतीति ज्ञानी को होती है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार स्पष्ट स्पष्ट रूप से प्रतिज्ञा को रूप में आचार्यों का कथन प्रस्तुत है।

---

१. भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुण्णपावाय।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य समत्तं ॥ १३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध नय से जीवादि नव तत्त्वोंका विश्लेषण करने से शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है और वही सम्यग्दर्शन है यह कथन का सार है।

ग्रंथका विषयविन्यास–और विस्तार

आत्मा और कर्मोंकी अनादि बंध पर्याय के लक्ष्य से नव पदार्थों की भेदरूप प्रतीति होती है। तत्त्वोंका विश्लेषण और जानने की सीमातक प्रयोजन भूत होते हुए भी अभेद स्वभाव का लक्ष्य होनेपर इन भेदरूप नवतत्त्वों की प्रतीति नहीं होती, उनमें एक शुद्ध आत्म तत्त्व की प्रतीति धारा प्रवाही रूप से होती है। यही नवतत्त्वों की 'जानने' की प्रक्रिया मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। इस शुद्धनय को नवतत्त्वों का वर्णन और आविष्कार इस ग्रंथका हार्द और विस्तार है। इसी आशय को लेकर मूल ग्रंथ में समय प्राभृत में १ जीवाजीवाधिकार, २ कर्ता कर्म अधिकार, ३ पुण्य पापाधिकार, ४ आस्रवाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ बंधाधिकार, ८ मोक्षाधिकार और ९ सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार इस प्रकार नव अधिकार प्रकरणोंका विभाजन हुआ है।

संसार और मोक्ष के कारणों का विचार करने के लिए प्रस्तुत आचार्य ने जीव अजीव स्वरूप-निरूपणा के अनंतर परस्पर दोनों के बन्ध के कारणों का, कार्यकारणों का कर्ताकर्म सम्बन्ध का ज्ञान अत्यावश्यक होने से जीवाजीवाधिकार के अनंतर कर्ताकर्माधिकार की रचना अलौकिक रूप में की। और अंत में नवतत्त्वों में अंतर्व्याप्त एकतारूप सर्व विशुद्ध ज्ञान का आशय विशुद्धि के हेतु विशेष वर्णन किया गया जो क्रमप्राप्त ही है।

अध्यात्म ज्ञान के तलस्पर्शी वेत्ता और भाषाप्रभु विद्वान आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने मर्मस्पर्शी सर्वाङ्गसुन्दर स्वनामधन्या 'आत्मख्याति' टीका में इसी ग्रन्थ को बारह अध्यायों में रखा। उन्हें इस विषय को नाट्य के रूप में प्रस्तुत करना अभिप्रेत है। विश्व के रंगमंचपर नवतत्त्वों का स्वाङ्ग नृत्य बतलाना था इसलिए प्रथम भाग को पूर्व रंग के रूप में प्रस्तुत किया। और अंतिम परिशिष्ट के रूप में शुद्धनय का निरूपण जो ग्रन्थ में आया है उसमें अनेकान्त का दिग्दर्शन कराया और उपाय–उपेय भाव का भी दिग्दर्शन कराया इस प्रकार बारह अध्याय होते है। परम शांतरस के पार्श्वभूमीपर नवतत्त्वों के नाट्य में अलौकिक स्वरूप में नवरसों का जो अपूर्व आविष्कार दिखाई देता है वह कहींपर अन्यत्र देखने में न आने से अपूर्व और अलौकिक है।

इस टीका में तत्त्वज्ञान और काव्य की हद मानों एक होगई इस तरह समसमा संयोग और पूर्ण सुमेल है। आचार्य कुन्दकुन्द को अभिप्रेत शुद्ध आत्मतत्त्व का सूक्ष्म स्वरूपदर्शन आचार्य–अमृतचन्द्र ने अपनी अर्थवाही और सालंकार तथा अर्थगरिमा से झरती हुई प्रौढ भाषा प्रयोगों से साक्षात् कराने में कोई कसर नहीं रक्खी। भाषाने अर्थ का अनुधावन पूर्ण प्रामाणिकता से किया है। यदि यह कहा जाय कि, यहाँपर अमूर्त शुद्धात्मरूप परब्रह्म साकार हो गया और शब्दब्रह्म सचेत होगया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कुन्दकुन्द देव के भावमय रत्न के लिए अमृतचन्द्र की भाषा मानों यथार्थ में सुन्दर सुवर्ण का अनुपम जडाव बना है। अद्भुत भावनात्मक एकता के सजीव सौंदर्य के लिए क्या कहा जाय वहाँ तो आत्म-पूजक भाषादेवी स्वयं पूज्य और श्रेष्ठ बन गई है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका रचना की अपेक्षा सरल है, सुबोध है और मर्म को यथास्थान स्पष्ट करने में वह भी समर्थ हुई है।

इन अधिकारों का विषय परिचय

जीवाधिकार

आत्मा का अनादि-अनंत, नित्योद्योतरूप सहज ज्ञायकभाव यह उसका स्वभाव है। स्वभाव का साक्षात् लाभ सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयद्वारा या अभेद रूप से विचारा जाय तो आत्मा के समाधि द्वारा ही संभाव्य है। द्रव्य और पर्याय रूप से सर्व प्रकार शुद्ध आत्मा साध्य है। और द्रव्यरूप से शुद्ध आत्मा ही (त्रिकाली ज्ञायकभाव) अवलंब, आश्रय कारण है, उसके आश्रय से रत्नत्रय का विकास यह साध्यासिद्धि का एकमेव मार्ग होता है। सारांश, चाहे व्यवहार से कहो या निश्चय से कहो अपना आत्माही उपास्य सिद्ध होता है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वभाव से ज्ञानवान है उसका कभी नाश नहीं होता। अज्ञानी जीव ने राग की चक्कर में पड़कर आज तक ज्ञान की उपासना नहीं की। देह और आत्मा में एकता की कल्पना करते हुए रागद्वेषों की और अन्यान्य विकल्पों की ही पूजा की। पदार्थों को जानते समय ज्ञेयों के विषय में तो आदरभाव प्रगट किया किन्तु देखनहार और जाननहार आत्मा को भूल ही गया—उसका यथार्थ रूपेण समादर नहीं किया। ज्ञानस्वभावी आत्मा आत्मा के स्वभाव को नहीं जान पाया, देह और विकारों की पूजा करता रहा। देह के सन्निकट होकर उसे 'पर' के रूप में जानना इसमें वास्तव में आत्मा के आत्मत्व की पूरी सुरक्षा है। इसी आशयको, अरिहंत भगवान की स्तुति देहगुण स्तवन से नहीं किन्तु भगवान के गुणस्तवन करने से ही संभव है यह स्पष्ट किया है।

अजीवाधिकार

अज्ञानी की मान्यता जीव की तरह अजीव के विषय भी विपरीत होती है। वह कर्म, नोकर्म, कर्मफल, कर्मोदय निमित्तक सुख-दुःख रागादि विकार तथा संयोग और संयोगसापेक्ष विकारों को आत्मा के स्वरूप के रूप में स्वीकार करना है। नित्य पर्याय दृष्टि बने रहने के कारण नैमित्तिक अवस्थाओं से परे शुद्ध आत्मतत्त्व संभव है ऐसा विकल्प ही उसे आता नहीं। परंतु इनमें से देह-कर्मादिकों की पुद्गलमयता सुस्पष्ट ही है। रहा रागादि भावरूप अध्यवसानादि विकल्प वे क्षणिक होने के कारण उनकी व्याप्ति आत्मा के साथ घटित नहीं होती अपितु पुद्गलमय कर्मोदय के साथही होती है और निर्मल आत्मानुभूति में वे उपलब्ध नहीं होते इसलिए ये वर्णादि और रागादि भाव जीव से भिन्न और पौद्गलिक है। वे चेतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकाररूप से यद्यपि अन्य आगमग्रंथों में जीव के कहे गये है फिर भी वह संपूर्ण कथन व्यवहार कथन है। प्रयोजन वश उसका यथास्थान कथन क्रम प्राप्त होता है। क्यों कि विकारों में रचे हुए जीवों को विकारों के साथही साथ धाराप्रवाही रूप से विद्यमान पारिणामिक भावरूप ज्ञायक भाव का परिचय व्यवहारक अवलंब से उनके द्वारा ही होता है, तत्त्व दृष्टी से आत्मा तो ज्ञायक मात्र ही है। समयसार में 'ज्ञान' यह अनन्त गुणों का प्रतिनिधी रूप से कहा जाता है। व्यवहार ग्रंथ में गुणस्थान, मार्गणा स्थान आदिकों को जीवों के कहा है; उन्हें ही अध्यात्म शास्त्रों में पुद्गलमय कहा है और उसके लिए कारण शुद्धात्मानुभूति से वे भिन्न है ऐसा कहा है। २. जिस प्रकार ज्ञानादि गुणों के साथ जीव का नित्य तादात्म्य संबंध है उस प्रकार विकार भावों के साथ नहीं है। ३. नाम कर्मादिकों के क्षणिक उदयादि के साथ उनका अविनाभाव होता है न कि अनादि–अनंत जीवस्वभाव के साथ। इन्हीं हेतुओं से उन्हें वे जीव के क्षणिक परिणाम होते हुए भी 'पर' एवं हेय रूप से स्वीकार किया गया। शुद्ध नय की दृष्टि में एक शुद्ध चैतन्य भाव मात्र जीव रूप से स्वीकृत होने से वे सर्वभाव अनुभूती से परे है। इस तरह जीव अजीव तत्त्व की प्रतीति होने से शुद्ध आत्मलाभ होता है।

कर्ताकर्म–अधिकार

अज्ञानी और ज्ञानी के कर्ताकर्म बुद्धि में भी विशेष अन्तर होता ही है। अज्ञानी स्वयं को कर्म का, कर्मसापेक्ष परिणामों का क्रोधादिकों का, सुख-दुःखादि भावों का और शरिरादि नोकर्म का भी कर्ता मानता है यह मान्यता ही संसार परिभ्रमण का मूल है। ज्ञान से ही अज्ञानमूलक कर्तृकर्म बुद्धि का विनाश संभव है। जिसे आत्मा और रागद्वेषमोहादि भाव इन में भेदविज्ञान हुआ है वे ही वास्तव में ज्ञानी हैं। समयसार गाथा ७५ में कहा ही है—

कम्मस्स हि परिणामं णोकम्मसय तहेय परिणामं।
ण करेई एथ नादा जो जाणादि सो हवदि णाणी ॥७५॥

रागादि परिणाम और शरिरादि नोकर्म परिणामो को जीव करता नहीं, इस प्रकार जो जानना है वह ज्ञानी है। वास्तव में आत्मा ज्ञानस्वभावी होता हुआ अपने चैतन्य परिणामों का ज्ञान परिणामों का ही कर्ता है, क्योंकि वस्तु का स्वंभाव ऐसा ही है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य–गुण पर्यायात्मक है। और द्रव्य अपने गुणपर्यायों में व्याप्त होकर ही रहता है। द्रव्यहि प्रतिसमय स्वयं अपने अपने पर्यायरूप से परिणत होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नय से प्रत्येक द्रव्य अपने अपने पर्याय का कर्ता है, पर्यायार्थिक नयसे पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य उपादान कारण होता है जबकि वर्तमान पर्यायविशिष्ट योग्यता को प्राप्त द्रव्य 'कर्ता' कहा जाता है और वही परिणाम उसका 'कर्म' होता है। जीव स्वयं चैतन्यमय वस्तु है उसके संपूर्ण परिणाम चैतन्यमय होते है। निश्चय से जीव अपने चैतन्य परिणामों का कर्ता होता है और वे परिणाम जीव के कर्म होते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय से उपयोग में क्रोधादि नहीं पाये जाते यदि स्वभाव का लक्ष्य छूट जाता है और बंध पर्याय का भान होता है तो क्रोधादि विकार उत्पन्न होते है। इसलिए अज्ञान अवस्था में कदाचित् वह अपने चेतनाभासात्मक क्रोधादिकों का कर्ता कहा जाता है। जिस समय जीव क्रोध परिणाम रूप में परिणामता है उस समय बाह्य में स्थित कार्मणवर्गणा स्वयं कर्मरूप बन जाती है। पुद्गल ही उनका कर्ता है। आत्मा उन कर्मनोकर्मरूप भावों का कर्ता नहीं है। जब की जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्यरूप से कभी परिणत नहीं होता है तो वह जीव द्रव्य उन द्रव्यों का कर्ता कैसा होगा? यदि अपने को कर्मनोकर्मरूप पुद्गल द्रव्यों का कर्ता माने तो उन दो द्रव्यों को एक मानने की आपत्ति आयेगी जो इष्ट नहीं है इसलिए आत्मा अज्ञान अवस्था में यद्यपि क्रोधादि भावों का कर्ता है फिर भी कर्मनोकर्मों का कर्ता होही नहीं सकता। एकही द्रव्य कर्ता बनकर दो द्रव्यों के परिणामों को (कर्मों को) करे तो एक द्रव्य दो द्रव्योंकी क्रिया करता है ऐसा मानना पड़ेगा यह कथन वस्तुस्वभाव के विरुद्ध है और वस्तु स्वातंत्र्य की घोषणा करनेवाले जिनमत से भी विरुद्ध है।

किसी दो द्रव्योंमें से एकद्रव्य अन्य द्रव्य के परिणामों का स्वतंत्र रूप से तो कर्ता है ही नहीं परंतु निमित्त रूपसे भी वह कर्ता नहीं बन पाता, क्यों कि द्रव्य त्रिकाली एवं नित्य होता है इसलिए उसे नित्यकर्तृता प्राप्त होगी जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जैसे आत्मा पौद्गलिक कर्मनोकर्मरूप परिणामों का निमित्तरूपसे भी कर्ता सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आत्मा नित्य है इसलिए कर्मनोकर्मों का बंध नित्य होता ही रहेगा। संसार समाप्ति कभी संभवही नहीं होगी। इसलिए तत्त्व यह होगा कि, अज्ञान अवस्था में संभवनीय क्रोधादि जीव परिणाम और पुद्गलों के कर्मनोकर्मरूप परिणाम इन दोनों में समकाल है, दोनों में बाह्यतः व्याप्ति भी है अतः परस्पर अनुकूलता के कारण निमित्तनैमित्तिक संबंध का व्यवहार होता है। परंतु दो द्रव्यों में वह व्यवहार कदापि संभव नहीं। संक्षेप में यह सिद्ध होता है कि निश्चय से ज्ञानी ज्ञानभावों का और अज्ञानी अपने भावों का ही कर्ता है और उस समय पौद्गलिक कर्मनोकर्म स्वयं संचय को प्राप्त होने पर अज्ञानी उन कर्मों का केवल उपचार से कर्ता कहा जाता है।

वस्तु की अपनी अपनी मर्यादा है; प्रत्येक वस्तु स्वभाव से परिणमनशील है अपने परिणामों से तन्मय है इसलिए वह अपने परिणामों का कर्ता है; आत्मा भी अपनी परिणमनशीलता के कारण अपने परिणामों का कर्ता है इसही प्रकार पुद्गल द्रव्य भी सहजरूप से अपने परिणामों का कर्ता है। दो द्रव्योंकी अनुकूल परिणति होनेपर आत्मा पर के लक्ष्य से स्वयं संसारी होता है। परस्पर कर्तृत्व मानने से वस्तु की स्वतंत्रता का अपलाप होता है।

अज्ञान अवस्था में जीव रागादि विभावों को आत्मस्वभावरूप से स्वीकार करता है इसलिए रागादिकों का कर्ता होता है। उसी समय पुद्गल द्रव्य भी स्वयं कर्मनोकर्म रूपसे परिणमता है। उन पुद्गल-परिणामों का कर्ता पुद्गल ही है, न की जीव। दोनों में समकाल होने से और परस्पर अनुकूल परिणमन होने से निमित्तनैमित्तिकता का व्यवहार होता है। परंतु जिस समय निश्चयनय का अवलंब कर यह जीव रागादि विभावों को परसापेक्ष एवं 'पर' रूप से ही स्वीकृत करता है, स्वभाव-सन्मुख होता है उस समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अपने चैतन्यमय ज्ञानभाव मात्र का कर्ता होता है। उनही से तन्मय का अनुभवन होता है। जिसको वह 'पर' जाने उन भावों के साथ तन्मय कैसे होगा और यहि तन्मय नहीं होता है तो उनका कर्ता भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? इस प्रकार आस्रवभाव और आत्मभावों में जब भेदज्ञान होता है उसी क्षण आत्मा की रागादि संसारभावों के साथ कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होती है और तन्निमित्तक होनेवाला कर्मबंध भी नहीं होता है। भाव यह है कि निश्चय से आत्मा रागादिको का कर्ता नहीं है पर्यायार्थिक नयसे अज्ञानी अज्ञानभावों का और ज्ञानी अपने ज्ञानभावों का कर्ता है। आत्मा स्वभावतः ज्ञानी होने के कारण शुद्ध नय से वह अपने चैतन्य परिणामों का कर्ता है।

आगमग्रंथों में यत्रतत्र आत्मा को पौद्गलिक क्रोधादिकर्मों का और उदयापन्न पुद्गलकर्मों को जीवके क्रोधादिभावों का कर्ता कहा है वह केवल उपचार कथन है। परस्पर निमित्तनैमित्तिकता का लोगों को बोध कराने मात्र के लिए वह अनादिरूढ व्यवहार दरसाया है। जैसे कुंभकार को घट का कर्ता कहना। वास्तव में मिट्टी ही कुंभरूप से परिणत होती है इसलिए मिट्टी कुंभ की कर्ता कहना यह निश्चय है, उसही प्रकार से जीव अपने आत्म परिणामों का कर्ता स्वयं सिद्ध होता है।

आत्मा में कर्मबद्ध-स्पष्ट है यह व्यवहार पक्ष है और कर्म आत्मा में बद्ध-स्पष्ट नहीं है यह निश्चयनय पक्ष है, दोनों नय विकल्प रूप ही है। निश्चयनय का विकल्प अर्थात् सविकल्प निश्चयनय यह स्वाभाविक निर्विकल्प अनुभूति की अपेक्षा से व्यवहार स्वरूपही है। इस लिए दोनों नय पक्षों को (व्यवहार पक्ष और निश्चयनय के विकल्प का पक्ष) आचार्यों ने विनाविकल्प हेय ही कहा है। सर्वज्ञ भगवान की तरह जानने योग्य ज्ञेय मात्र है। अनुभूति में आश्रयणीय नहीं। विकल्पात्मक नय पक्ष का स्वीकार यह निर्विकल्प अनुभूतिस्वरूप इष्ट की सिद्धि करने वाला नहीं है। वह भी रागरूप होने से अनुभूति में बाधक है। निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा के साथ उपयोग से तन्मय होकर निर्विकल्प होना यही 'आत्मख्याति' है। वही निश्चय नय के विषय का स्वीकार है। निश्चयनय का ग्रहण कहा जाता है। वही शुद्ध नय का ग्रहण है। प्रयोजनभूत भी वही है। दोनों नय पक्षों का ज्ञाता मात्र बनकर निश्चयनय विषयरूप से साक्षात् परिणमन करना यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यग्दर्शन है।

संक्षेप यह है की रागद्वेषसंबंधी कर्ताकर्मबुद्धि यह कोरा अज्ञान है, कर्मबंध का निमित्त है, संसार का निमित्त है और कर्ता-कर्म-बुद्धि का त्याग ज्ञानभाव है, कर्मक्षय का निमित्त है अतएव उपादेय है।

पुण्यपापाधिकार

आगम ग्रंथों में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म रूप से जो निरूपण है वहां सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप विशुद्धि के साथ सहचर रूप से विद्यमान मन्द-कषाय रूप जो शुभोपयोग होता है उसे व्यवहार से धर्म कहा है, कषाय के अभावों के साथ होने मात्र के कारण धर्म का उन में उपचार चरणानुयोग ग्रंथों में किया गया है। (वीतरागता-यथासंभव कषाय का अभाव और शुभोपयोग एकत्र पाये जाने में विरोध नहीं) इसलिए पुण्य धर्म का एक अंग कहा जाता है उस में व्यवहार दृष्टि की बलवत्ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतु, स्वभाव, अनुभव, और आश्रय ये चार की अपेक्षा से पापपुण्य में भेद है ऐसा व्यवहारवादी का पूर्व पक्ष है। पुण्यपाप में तीव्र कषाय और मन्द कषाय रूप शुभाशुभ भावों में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कर्महेतुक होने से पुद्गलस्वभावी होने से, दोनों का विपाक पुद्गलमय होने से और दोनों मात्र बन्धमार्गाश्रित होने से उक्त चारों प्रकार से अभेद ही है। वे दोनों भाव मोक्ष के लिए निश्चय से कारणरूप एवं धर्मरूप नहीं है। पुण्यपाप से परे वीतरागभाव ही धर्म है और वह मोक्ष के लिए कारण रूप है।

मन्द कषाय रूप शुभपरिणामों को शुद्धनय द्वारा निषेध करके हेय बतलाया जाता है। इसलिए आत्मा अशरण नहीं बन जाता, स्वयं शुद्ध आत्मा ही शुद्ध नयावलम्बी के लिए पूर्ण शरण है। आत्मा के आश्रय बिना व्रत–तप को बालव्रत और बालतप कहा है इसमें भी कोई आचार्यों का उद्देश है। सविकल्प अवस्था में राग की भूमिका में उनका होना और अवशता से रहना यह बात दूसरी और उन्हें उपादेय मानकर श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का आधार–आश्रय बनाना यह बात दूसरी है। गाथाओं में स्वयं आचार्य कुन्द-कुन्द लोहशृंखला और सुवर्णशृंखला का दृष्टांत देकर इसे सुस्पष्ट करते है यह कथन उपेक्षणीय नहीं है। सम्यग्दृष्टि, राग वह चाहे शुभ या अशुभ हो उन्हें बन्धके कारण रूप में हि स्वीकार करता है। धर्म-दृष्टि से हरगिज नहीं।

कर्म नय का एकांत से अवलम्ब करके मात्र शुभोपयोग में मग्न जीव मोक्षमार्ग से दूर है वैसे हि ज्ञाननय का एकांत अवलम्ब कर आत्मम्मुख–आत्माविभोर न बनकर ज्ञान विकल्पों में हि मग्न प्रमादशील पुरुषार्थहीन जीव भी कषायमूर्ति है, मोक्षमार्ग से दूर ही है। परमार्थतः विचारा जाय तो एक ज्ञायक-स्वरूप शुद्ध आत्मा का अवलम्बपूर्वक श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र को उपादेय मानकर संयोगवश सविकल्प राग की भूमिका में हेयबुद्धि से प्रवृत्त ज्ञानी ही अनुभूति में पुण्यपापातीत स्वरूप मग्न दशा अनुभव करते हुए मुक्ति प्राप्त करते है।

आस्रवाधिकार

१३ वी अधिकार गाथा में सात तत्त्वों का यथार्थ लक्षण निश्चित किया गया है। आस्राव्य और आस्रावक अथवा जीवविकार और विकार–हेतु (कर्म) दोनों को 'आस्रव' संज्ञा दी गयी है, जीव अनादि-बद्ध होने से मिथ्यात्व–अविरति–कषाय–योगरूप द्रव्य प्रत्यय उसे अनादि से विद्यमान है। उन्हीं के सद्भावों में अभिनव कर्मों का आस्रव होता है। यहाँ पर भी पूर्वबद्ध कर्मों के उदय क्षण में होनेवाले रागद्वेष मोहरूप विभाव–भाव–आस्रवभाव उन कारणों की कारणता में निमित्त है। भाव यह है रागादि आस्रवभाव यदि होते है तो पूर्वबद्ध द्रव्य प्रत्यय अवश्यहि नूतन आस्रव के लिए कारण बन जाते है, अन्यथा नहीं। इसलिए रागद्वेषमोहरूप विकारी भावही वास्तव में आस्रव तत्त्व है। यदि जीव स्वयं विकार न करे तो वे जड़स्वरूप प्रत्यय क्या करेंगे ? पृथ्वीस्कंध की तरह पूर्वबद्ध कर्मस्कंधों के साथ केवल संबंध मात्र को प्राप्त होंगे। ज्ञानी जीव रागद्वेषमोह भावों को औपाधिक एवं 'पर' रूप से जानता है। उन में तन्मयता को प्राप्त नहीं होता इसीलिए आस्रव तत्त्व की हेयरूप से प्रतीति करता है। यह प्रतीति उपयोग शुद्ध आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सन्मुख होने पर ही होती है । भावार्थ यह है कि, शुद्ध नय से आस्रव तत्त्व की हेयरूप से प्रतीति ही वास्तव में आत्मानुभूती है । और वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग है ।

संवराधिकार

उपयोगस्वरूप आत्मा और क्रोधादि ये स्वभावतः भिन्न है क्यों कि शुद्ध आत्मानुभूति में क्रोधादिकों का अनुभवन नहीं होता और क्रोधादिकों की अनुभूति में शुद्ध आत्मा की अनुभूति नहीं होती । इस प्रकार एक भेदज्ञानही से जीव तत्क्षण आस्रवों से निवृत होता है उसे स्वरूप प्राप्ति होती है और नूतन कर्मों को रोकता है इसी समय यथा संभव गुप्ति–समिति आदि सविकल्प भूमिका में होते हैं । प्राणभूत भेदविज्ञान के ये परीकर है सहचर है । जिसने रागादिकों से आत्मा को पृथक अनुभव किया उसने कर्म नोकर्मों से भी आत्मा को भिन्न ही किया । क्यों कि कर्म–नोकर्मों को आस्रव का कारण रागादिक वहाँ पर नहीं होते हैं । संवर का कारण आत्मानुभूति विद्यमान होने से अपूर्व संवर स्वयमेव होता है इसलिए भेद विज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति यह ही एक मात्र 'संवर तत्त्व' है । तात्पर्य शुद्ध नय से संवर तत्त्व का जानना ही आत्मानुभूति ही है ।

निर्जराधिकार

भेदविज्ञानी शुद्ध आत्मतत्त्व का स्वीकार करता है तो पूर्वबद्ध कर्म नियमानुसार यथाक्रम उदय को तो प्राप्त होते ही है । किन्तु उदयरूप फल में रागद्वेषमोह के अभाव से वे कर्म उदीर्ण होकर वैसा नया कर्म बिगर बांधे खिर जाते है । इसीको द्रव्य निर्जरा कहते है । उदय से सुखदुःख भी अवश्य ही होते है, यही भाव अज्ञानी को राग के कारण बन्ध का हेतु होने से वास्तव में निर्जरा न होने के समान है । किन्तु सम्यग्दृष्टि को उन सुखदुःखों में राग न होने से बन्ध न होकर मात्र निर्जरित होता है । यहां राग का अभाव या आत्मानुभूति ही भावनिर्जरा है ।

सम्यग्दृष्टि को भोग पूर्व कर्मोदय के कारण अवशता से प्राप्त होता है । इसलिए वह उस में रिझता नहीं । राग के अभाव में ज्ञानी को वह उपभोग बन्ध के लिए नहीं प्रत्युत निर्जरा का हेतु बनता है । बन्ध तो उन में रागद्वेष होने पर ही होगा । इस लिए ज्ञानी के बाह्य में विषय भोग दिखाई देने पर भी वह अभिप्राय में उनके प्रति निर्मम है तथा उसे उनके भोगों के सुखदुःखरूप फलों की आकांक्षा भी नहीं होती । जो फलकी अभिलाषा ही नहीं करता वह कर्म को करता है यह तो प्रतीतिविरोधी बात है । सम्यग्दृष्टि दुनियाकी दुकानदारी का मुनिम होकर व्यवहार करता है, मालिक बनकर नहीं । उसे उनमें हर्षविषाद नहीं । वह ऐसा कर्मोदय का भोग है जिसे टाला नहीं जा सकता किन्तु ज्ञानवैराग्य से उसमें कर्मबंध का जो विष है उसकी शक्ति नष्ट की जा सकती है ।

ज्ञानी स्वेच्छा से रुचिपूर्वक विषयभोगों में परिग्रहों में रिझता नहीं यदि वह उनमें रमता है तो वह ज्ञान से च्युत होकर, रागी बनकर कर्मबंध ही करेगा । वास्तव में ज्ञानी को रागद्वेषमोह में ममत्व का अभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। इसी कारण ज्ञानी की प्रत्येक क्रिया (भोगक्रिया भी) भेदविज्ञान के बल से आसक्ति बिना होती है, उसे रागादि निमित्तक अनंत संसारसंबंधी आस्रवबंध भी नहीं होता। पूर्वबद्ध कर्म आस्रव हुए बिना खिर जाते है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन के आठों अंग वास्तव में निर्जरा का हेतु है। इसलिए ज्ञानी सर्व प्रकार निःशंक–निर्भय होता है। भय तो पर में ममत्व होनेपर संभवनीय है। वह संसार भोगों के प्रति निःस्पृह होता है। सम्यग्दृष्टि की कौनसी भी क्रिया सम्यक्त्व से ओत प्रोत होने के कारण वास्तव में निर्जरा हेतु है। शुद्धनय से भेदविज्ञान और वैराग्य यही निर्जरातत्व है और उसकी प्रतीति में आत्मा की ही प्रतीति है।

बंधाधिकार

पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में या उदय फलों में सुखदुःखों में ममत्वपूर्वक रत होना यह परसंग है यही बंध है। कर्मों का उदय होनेपर मोहराग–द्वेषरूप अध्यवसान भाव होते है अज्ञान अवस्था में जीव अपने को पर के सुखदुःखों का, जीवन–मरण का कर्ता मानता है। पर के कर्तृत्व के कारण अहंकार भावों से वह उन्मत्त ही है। पांच पापों में यदि कर्तृत्वबुद्धि बनी रहती तो बंध है ही परन्तु पांच व्रतरूप विकल्पों में भी यदि अध्यवसानरूप में कर्तृत्वबुद्धि है तो वहां पर भी रागांश की विद्यमानता के कारण कर्म–बंध है। भगवान ने रागमात्र को जो हेय बतलाया है उससे पर संबंधी कर्तृत्वबुद्धि संपूर्ण अध्यवसायों को छुड़ाया है। अध्यवसान से रंगा हुआ उपयोग निमित्तभूत कर्मोदयरूप उपाधि से तन्मयता को प्राप्त होनेपर ही हो होता है। स्वाधीनता पूर्वक कर्मोदय के आधीन होनेपर ही रागादि उत्पन्न होते है। इसलिए यदि बंधन न हो ऐसी अपेक्षा है तो स्वभाव–सन्मुख होकर अध्यवसानों का अभाव करना ही होगा। पर पदार्थ बंध के कारण नहीं होते, अध्यवसान बंध के कारण है। परपदार्थ तो केवल अध्यवसानों के निमित्तभूत या आश्रयभूत हो सकते है। इन परपदार्थों का जहाँ बुद्धिपूर्वक स्वीकार है वहाँ विकार भाव या अध्यवसानों की सत्ता अवश्यंभावी है। पर में राग करना ही 'परसंग' कहलाता है। मात्र बाहरी संयोग परसंग नहीं है यह परसंग ही बंध का कारण प्रसिद्ध है न कि बाह्य वस्तु। बाह्य वस्तुको बंध का कारण मानना यह अपना पाप दूसरे के माथे रखना होगा। वास्तव में रागादि अध्यवसान ये बंधतत्त्व सिद्ध होते है। रागादि अध्यवसानों को हेय रूपसे स्वीकृत करना ही शुद्ध आत्मा की प्रतीति है।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंध को साक्षात् पृथक करना यह मोक्ष है। केवल बंधके स्वरूप का ज्ञान या बंध संबंधी विचार परंपरा भी मोक्षका हेतु नहीं। शुभस्वरूप धर्मध्यान में इनका अंतर्भाव होता है। कर्मोका प्रतिक्षण उदय होकर उनकी यथाक्रम निर्जरा होती है यह भी कोई मोक्ष का हेतु नहीं, कारण अज्ञानी कर्मोदय में रागद्वेष करता है। अपने प्रज्ञा के द्वारा उन्हें पृथक नहीं करता। इसलिए उनकी बंध परंपरा में खण्ड नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। जिस प्रकार पर्याय दृष्टि किचड़ में जल और मल को पृथक अनुभवन नहीं कर पाता। यदि स्वभाव-दृष्टि का अवलंबन करता है तो तत्काल शुद्ध जलका अनुभवन होता है उसही प्रकार अशुद्ध संसारपर्याय में स्वभावदृष्टि का अवलंब कर कर्मोदयरूप विकार और आत्माका त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव इन दोनोंको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न जानकर प्रज्ञा के द्वारा विकारों का त्याग और स्वभाव का स्वीकार होना चाहिए। ज्ञानी विकारों पर एवं हेय जानता है उनसे तन्मय नहीं होता, आत्मा से उन्हें भिन्न स्वीकारता है।

यही विकारों का त्याग है। इन प्रकार शुद्ध आत्मा के आश्रय से ज्ञान–दर्शन चारित्र की प्रवृत्ति होना ही स्वभाव का स्वीकार है। इसमें भी अपनी प्रज्ञा ही एकमात्र साधन होता है। शुद्ध चैतन्य आत्मा में ही कारक संबंध को स्वीकार करके (पर में कारक संबंध न मानकर) उस कारक विकल्प से भी स्वयं अतीत होना, शुद्ध आत्मा में उपयोगकी समाधि तन्मयता यही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य, सूक्ष्म नयके द्वारा सर्व प्रथम रागादि विकल्प पश्चात् कारकों के विकल्पकों को भी दूर करके एक शुद्ध आत्माकी अविचल अनुभूति करना यही मोक्षतत्त्व है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

इस प्रकार नवतत्त्वों में एक ज्ञायक भावस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व अनुस्यूत है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व के विकल्प से अतीत है। आत्मा स्वभाव से रागद्वेषों का कर्ता या भोक्ता नहीं है। अज्ञान अवस्था में रागादि विकारभाव होते है इसलिए अज्ञानी-जीव ही रागादिकोंका भोक्ता है ज्ञानी अवस्था में वह अकर्ता और अभोक्ता है। यह अमृतोपम अध्यात्म मंत्र है। इसे भूलना और विकारों का कर्ता जड़ कर्म को मानना उनमें अपनाहि अपराध नहीं मानना यह अध्यात्म का विपर्यास है। कर्मोदय का निमित्त होनेपर उनमें लीन होने से अपने ही अपराध के कारण विकार होते है।

'यदिह भवति रागद्वेष-दोष प्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो, भवति विदितमसां यात्वबाधोऽस्मिबोधः॥

आशय यह है कि "आत्मा में जो रागद्वेषादि दोषों की उत्पत्ति होती है उसमें पर द्रव्योंका कोई अपराध नहीं है। यहाँ तो अज्ञान ही स्वयं अपराधी के रूप में सामने आता है। यह ठीक तरह से जानने में आवे और अज्ञानका पूरा अभाव हो जावे। मैं तो ज्ञानमात्र हूं।"

परद्रव्यों का संयोग होने मात्र से जो रागद्वेषों के उत्पत्ति का उत्तरदायित्व पदार्थोंपर थोपते है स्वयं इस जीव ने परका संग किया इस अपनी भूलको स्वीकार नहीं करते वे अज्ञानी मोह महानदी से पार नहीं पा सकते। यह स्पष्ट है कि कोई बाह्य वस्तु या पांच इन्द्रियों के विषय स्वयं रागद्वेष के जनक नहीं होते है। वे 'मुझे चखो?' 'मुझे देखो?' इत्यादि रूप से किसी जीव को प्रेरित भी नहीं करते और आत्मा भी अपने स्थान को छोडकर विषयों को ग्रहण करने दौडकर नहीं जाता। आत्मा तो ज्ञायकदर्शक मात्र है वह भी अपने स्वभाव से न कि ज्ञेयभूत-दृश्यभूत पर पदार्थों के कारण। जिस प्रकार चांदनी स्वयं स्वभाव से ही वस्तु मात्र को प्रकाशित करती है उसी प्रकार ज्ञान सहज स्वभाव से ही ज्ञायकरूप है और पदार्थ अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव से ज्ञेयस्वरूप है। ज्ञान में उनके आकार झलकते है, ज्ञान उन ज्ञेयाकारों को जानता है ज्ञान को परद्रव्यों का ज्ञायक या दर्शक कहना यह केवल व्यवहार ही है। आपाततः यह ज्ञेय की चिंता एवं रागादि विकल्प स्वयं अपराधरूप सिद्ध होते है। रागादि विकल्पों से रहित अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित होना चारित्र है। इस सुदृढ आशय के आश्रय से ही ज्ञानी के भूतकाल संबंधी कर्मोदय में या क्रिया प्रवृत्तियों में राग नहीं होता निर्विकल्प स्वभाव स्थिरता होती है यह उसका वास्तव-यथार्थ प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार वर्तमान काल संबंधी मनवचनकाय के क्रिया विकल्पादिकों के परित्यागरूप आलोचना और भविष्यकालीन क्रियाकाण्ड-रूप विकल्पों के परित्याग प्रत्याख्यान का अंतरंग या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही होता है इसीलिए ज्ञानी जीव को त्रिकाल संबंधी क्रियाकाण्ड में राग नहीं होता इस प्रकार ज्ञानी कृतकारित अनुमोदना से सर्व कर्तृत्वबुद्धि त्याग करता है। अतीत-वर्तमान और भावी कर्म फल में राग को छोडता हुआ स्वयं को भिन्न जानता है इस प्रकार उसे कर्मफल का भोक्तृत्व भी नहीं होता। कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना से रहित होकर ज्ञान भाव में तन्मय होने से ज्ञान चेतनारूप से अविचल स्थित होता है। ज्ञानस्वभाव से ही स्पर्श-रस-गंध वर्णादिक पर पदार्थों से भिन्न है वे पर पदार्थ ज्ञेयमात्र है। वे भिन्न होने के कारण वास्तव में वे न हेय है न उपादेय है। आत्मा और ज्ञान अभिन्न है इसलिए जैसे आत्मा ही ज्ञान है उसी प्रकार आत्मा ही संयम है, तप है, दीक्षा है यह सुतरां सिद्ध होने से ज्ञानी के शरीरादि परद्रव्याश्रित बाह्य लिंगों में ममकार बुद्धि नहीं होती। निश्चय नय से मोक्ष मार्ग का न मुनिलिंग लिंग है या गृही का परिवेष लिंग है। एकमात्र सर्वतो विशुद्ध आत्मा में स्थिर हुआ ज्ञान यही मुक्ति का लिंग है, वही श्रामण्य है, वही साम्य है, वही मोक्ष मार्ग में परमोपादेय प्रयोजनीभूत है। अतः एक शुद्ध ज्ञानतत्त्व में लीनता एकमात्र मोक्ष का साक्षात कारण होने से प्रयोजनभूत है।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाधिकार

आत्मवस्तु ज्ञानमात्र कहने पर भी टीकाकार आचार्य अमृतचंद्राचार्य ने आत्मा में अनेकान्त कैसे सिद्ध होता है यह युक्तिपूर्वक प्रगट किया है और साध्य साधन भाव भी सुघटित किया है। जहां आत्मवस्तु स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव से सद्रूप है उसही समय परद्रव्यादि चतुष्टयों से असद्रूप है। इसी प्रकार एकानेकत्व, नित्यानित्यत्व, तद्अतद्रूपत्व विवक्षीवश आत्मवस्तु में स्वयं सिद्ध है। अनेकान्त को माने बिना एकान्ती वस्तुतत्त्व का कैसे लोप करनेवाला होता है यह चौदह प्रकारों से संक्षेपतः प्रगट किया है। आत्मा की शुद्ध पर्याय साध्य और शुद्ध ज्ञायकभाव का अवलंबन साधन इसे संक्षेप में पुनः प्रगट किया है।

इस प्रकार समयसार में जो भी निरूपण है उसमें शुद्ध आत्मतत्त्व के ग्राहक शुद्धनय की प्रधानता है। इसी दृष्टि से प्रतिपाद्य विषय का विस्तार अपने स्वरूप का निराला सातिशय ही हुआ है। वस्तु स्वातंत्र्य यह जैन तत्त्वज्ञान का प्राण है। आत्मवस्तु तत्त्वज्ञान का केन्द्रस्थान है। इसीलिए ग्रंथ भर में आत्मस्वतंत्रता का और साधनस्वरूप स्वावलंबन का यत्रतत्र सर्वांगसुंदर समचतुरस्रसंस्थानरूप मनोहारी मूर्तिमान आविष्कार ही हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालप्रवाह में अज्ञानभावों की बलवत्ता और निमित्तकर्तृत्व के संस्कारों की अधिकता से इस सूक्ष्म आर्हत तत्त्वज्ञान में भी अन्यथापन अधिकतर पनप गया है, प्रभावित हुआ है। फलतः धर्मतत्त्वज्ञान के स्वरूप–सुंदर स्वरूप को सांप्रदायिकता का अशोभनीय रूप प्राप्त हुआ। श्वेतांबर संप्रदाय क्या और दिगंबरों में भी परतंत्रता के भूलभरे विषात् विकल्पों का क्या इसके उदाहरण हो सकते है? परमार्थ स्वरूप यथार्थ मोक्षमार्ग की सुरक्षा करने का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य यह आचार्य शिरोमणि युगपुरुष कुंदकुंद भगवान की जैनत्व के लिए सातिशय सचेतन देन है। परम सूक्ष्म आत्मतत्त्व विषयक तत्त्वज्ञानकी सागर जैसी गहराई, आकाश जैसी व्यापकता सूर्यप्रकाश जैसी सुस्पष्टता ये ग्रंथ की अपनी विशेषता है। आत्मा के विभक्त एकत्व का यहां साधकों को साक्षात्कार होता है इसीलिए यह चिंतामणि रत्न है। यहां विसंवाद का अंश नहीं न्याय सिद्धांतों से या सिद्धांत ग्रंथांतर्गत न्यायों से इस ग्रंथ में प्रणीत तत्त्वनिरूपण में बाधा नहीं आ पायी। आत्मवस्तु का शुद्ध स्वरूप जैनी वस्तुव्यवस्था के मूलाधार पर ही आधारित है।

संपूर्ण शास्त्र जिसकी ओर अंगुली निर्देश कर पाते है, चारों अनुयोग पद्धति का जो लक्ष्य बना रहा, शास्त्र विवेचन का जो अंतिम उद्देश रहा उसी शुद्ध आत्मतत्त्व का यहां पर मर्मस्पर्शी हृदयंगम सर्वतोभद्र कल्याणप्रद लोकोत्तम साक्षात् आविष्कार हुआ है। द्रव्यदृष्टि का, शुद्ध नयन का अवलंबन लिया गया वह स्वतंत्र है अतः अध्यात्म ग्रंथों का यह ग्रंथ आदि मंगलस्वरूप शुद्ध मूलस्रोत है। अनंतरवर्ती ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में इसकी चिन्मुद्रांकित अमिट मुद्रा बराबर अंकित करने में अपने को धन्य माना है और इस ग्रंथ की प्राणभूत शुद्ध नयात्मक द्रव्यदृष्टि मोक्ष के लिए और यथार्थ समाहित वृत्ति प्राप्त करने के लिए कामधेनू है। ऐसे परमोपकारी आचार्य कुंदकुंद देव को त्रिकाल नमोऽस्तु हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org